Research Ambition

An International Multidisciplinary-Journal

(Peer-reviewed & Open Access e-Journal)

ISSN: 2456-0146 Journal home page: www.researchambition.com

Vol. 06, Issue-IV, February 2022

मंदिर की प्राचीन अवधारणाः एक प्रतीकात्मक अध्ययन
The Ancient Concept of the Temple: A Symbolic Study

Dr. Sarala Singh[a,*]

[a] *Assistant Professor, Ancient History Department, Shri Agrasen Kanya P.G. College, Varansi, Mahatma Gandhi Kashi Vidhyapeeth (India).*

KEYWORDS

वास्तु पुरुष, बह्माण्ड, सृष्टि, धार्मिक वास्तु, देवालय, पुनर्जन्म, रहस्यात्मक अनुभूति, सूर्य–चक्र, प्रकृति, एडूक, रेखा शिखर, चन्द्रशाला, शून्य, वेणुकोश, एकाण्डक, अनेकाण्डक, आत्मा, अमरता आदि।

ABSTRACT

मंदिर विचलित मन से दूर वह पवित्र स्थान है जहाँ मानव मन को नवीन चेतना और प्रेरणा प्राप्त होती है इसीलिए मंदिर को देवालय, देवायतन, देवकुल, देवगृह, देवधाम तथा देवलोक आदि शब्दों से अभिहित किया गया है। मंदिर दूर से देखने पर एक स्थापत्यिक ढाँचे की भाँति प्रतीत होता है। परन्तु यदि हम ध्यानपूर्वक मंदिर का अध्ययन करें तो पाते हैं, कि मंदिर विभिन्न प्रतीकों का समन्वय है। मंदिर के प्रत्येक भाग के निर्माण के पीछे कोई न कोई गूढ़ मन्तब्य है। मंदिर के विभिन्न भाग मानव जीवन की सम्पूर्ण कहानी को व्यक्त करते हैं। उसमें यदि चार आश्रम समाहित हैं तो अमरता और पुनर्जन्म की कहानी भी सम्मिलित है। मंदिर की अपनी धार्मिकता है परन्तु उसमें विभिन्न रहस्यात्मक अनुभूतियों का भी समन्वय है। मंदिर की तुलना मानव शरीर से की गयी है तथा उसके विभिन्न अंगों को मंदिर के विभिन्न अंगों के साथ समीकृत किया गया है। मंदिर में सम्पूर्ण ब्रह्मांड समाहित है। यह स्वयं में सम्पूर्ण सृष्टि है। प्राचीन भारतीय वैदिक परम्परा सम्पूर्ण सृष्टि को पुरुष के रूपक से परिभाषित करती है। वास्तुग्रंथों में इसे वास्तु पुरुष की संज्ञा दी गयी है और मंदिर को पुरुष का प्रतिरूप कहा गया है। क्योंकि मंदिर स्वयं में सम्पूर्ण ब्रह्मांड है और वह मानव शरीर से समीकृत है इसलिए मानव शरीर चलता–फिरता ब्रह्मांड है।

Introduction

अत्यन्त प्राचीन काल से ही भारतीय संस्कृति में मंदिरों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। ये मंदिर धार्मिक आस्था के प्रतीक होने के साथ–साथ हमारी सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना के भी प्रमुख केन्द्र रहे हैं। भारतीय वास्तुशिल्प का चरमोत्कर्ष देवालयों के निर्माण में ही प्रतिबिम्बित होता है। वैदिक साहित्य में भक्ति या उपासना का जो मूल बीज निहित था उसका पल्लवन परवर्ती भारतीय साहित्य और कला में मिलता है। आगमों एवं पुराणों की उपासना पद्धति ने विष्णु, सूर्य, शिव आदि देवताओं की पूजा–अर्चना पर बल दिया, जिससे मूर्तियों और मंदिरों का व्यापक रूप में निर्माण होने लगा और मंदिर धार्मिक वास्तु के प्रतीक बन गए। देवालयों के लिए मंदिर शब्द प्रायः गुप्तकाल के अनन्तर प्रचलित हुआ। अर्थशास्त्र, महाभारत और रामायण आदि ग्रंथों में देवालय के लिए देवकुल, देवगृह तथा देवायतन जैसे शब्दों का प्रयोग मिलता है। स्वतंत्र अर्थों में देवालय के लिए मंदिर शब्द का प्रयोग सम्भवतः औपनिवेशिक काल में हुआ।

प्राचीनकाल में यज्ञवेदी का निर्माण देवों के आह्वान तथा यज्ञादि के निष्पादन हेतु किया जाता था। यज्ञवेदियों एवं चित्तियों में ही देवालय निर्माण के बीज निहित हैं। इस संबंध में स्टेला क्रैमरिश का मत है कि मंदिर की रचना में नीचे से लेकर शिखर तक वैदिक चिति विद्यमान है।[1] हमारे समाज में हिन्दू धर्म के अन्तर्गत देवी–देवताओं की उपासना हेतु लता–पत्रादि से मण्डप बनाकर आज भी पूजा–अर्चना की जाती है। प्रायः जैसा कि हम जानते हैं हिन्दू मंदिर एक प्रतीक हैं। इस सम्पूर्ण जगत में मनुष्य सबसे विकसित प्राणी है और मंदिर उसी का प्रतिरूप है इसीलिए मंदिर को पुरूष कहा गया है। शिल्परत्न में कहा गया है कि देवायतन को पुरुष (जगतस्रष्टा) की देह मानकर पूजा की जानी चाहिए। देवसदन के विभिन्न वास्तुगत अंग उस विराट पुरुष के ही अवयव हैं।[2] इसीलिए मनुष्य के शरीर के विभिन्न अंगों के नाम पाद से लेकर शिखा तक के अनुरूप ही मंदिर के अंगों का भी नामकरण किया जाता है। चरण, पाद, जंघा, ग्रीवा और मस्तक इत्यादि शब्द जो कि मानव शरीर के अंग हैं व जैविक कार्य करते हैं, मंदिर के स्थापत्य के विभिन्न अंगों को इंगित करने के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं। मंदिर के आधार अथवा चबूतरे को पाद कहा गया जो समस्त मंदिर का भार सम्भालता है। उसके ऊपर का भाग पैर और जंघे का सूचक है। जहाँ से मंदिर का आन्तरिक भाग दिखाई देता है उसकी उपमा कटि से तथा आन्तरिक भाग की उपमा उदर से की गयी। छत के ऊपर वक्ष तथा स्कन्ध होता है। शीर्ष तथा शिखर की उपमा मानव के सिर से की गयी। परन्तु सुन्दर से सुन्दर शरीर भी आत्मा के बिना निर्जीव है। अतः हिन्दू धर्म में मंदिर उस देवता का स्थान है जो विश्व की अन्तरात्मा है। इसलिए मंदिर को देवालय, शिवालय व देवायतन जैसे शब्दों से अभिहित किया गया है।

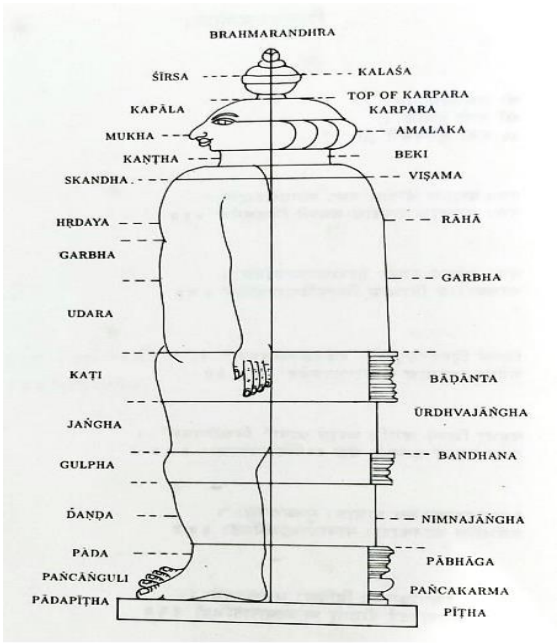

(श्रोतः मंदिरःपुरूष का प्रतिरूप[3])

मंदिर में स्थापित देव प्रतिमा राजाधिराज का प्रतीक है, जिसमें अखिल विश्व के

*** Corresponding author**

E-mail: saralasingh92@gmail.com (Dr. Sarala Singh). https://orcid.org/0000-0003-2698-6894

DOI: https://doi.org/10.53724/ambition/v6n4.04

Received 05th Feb. 2022; Accepted 16th Feb. 2022

Available online 28th Feb. 2022

2456-0146 /© 2022 The Authors. Published by Research Ambition (Publisher: Welfare Universe). This work is licensed under a Creative Commons Attribution-NonCommercial 4.0 International License

प्रभु की अवधारणा निहित है। प्रासाद शब्द से मंदिर व महल दोनों का ही बोध होता है। जिस प्रकार महल में राजा के सिंहासन, छत्र एवं चँवर की व्यवस्था होती है ठीक उसी प्रकार मंदिर में भी देव प्रतिमा का सिंहासन, छत्र एवं चँवर आदि से सम्मान किया जाता है व प्रतिमा की आराधना करते हुए वाद्य, दीपक व नृत्य का प्रदर्शन होता है। जिस प्रकार से एक राजमहल में दरबार कक्ष व अन्य कक्ष होते हैं ठीक उसी प्रकार से मंदिर में भी गर्भगृह के अतिरिक्त मंत्रणाकक्ष व सभामण्डप होता है। मंदिर का गर्भगृह ठोस दीवारों से घिरा हुआ एक अंधेरा कक्ष होता है, जिसका आन्तरिक भाग मंद रोशनी वाले एक दीपक से प्रकाशित होता है। सम्पूर्ण वातावरण बाह्य संसाररूपी माया की तरह दिखाई देता है और इस अंधकार में आ रही मंद रोशनी ईश्वर की रहस्यात्मक अनुभूति कराती है जो कि नश्वर है और सम्पूर्ण जगत में व्याप्त है।[4]

यदि सम्पूर्ण मंदिर की बात करें तो हम यह देखते हैं कि मंदिर की बाहरी दीवारों पर सम्पूर्ण देवताओं, मानव, व पशुओं का बारीकी से अंकन किया जाता है। इसके पीछे भावना यही थी कि ये सभी इस ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं।[5] व्यक्ति जिस प्रकार से मंदिर के चारों ओर परिक्रमा करता है उसे देखकर ऐसा लगता है कि मानो वह स्वयं ब्रह्माण्ड में विचरण कर रहा हो। इसके अतिरिक्त ठोस दीवार और मंदिर का गहन अंधकार गर्भगृह को गुफा रूप में प्रदर्शित करता है, जहाँ विराजमान होकर ईश्वर अपनी तपस्या में लीन रहते हैं साथ ही मंदिर का शीर्ष भाग जो शिखर कहलाता है, अपनी बनावट में पर्वत के समान दिखाई देता है।[6] इसके अतिरिक्त मंदिर के आन्तरिक कक्ष की दीवार, स्तम्भ व छत पर पवित्र नक्काशी–कार्य भी आराधक के मस्तिष्क को प्रभावित करता है और इस भक्ति भावना में रत होकर आराधक मंदिर के दरवाजे पर पहुँचता है जो अंतिम अलंकृत स्थान होता है। द्वार की रचनाओं पर अंकित नदी–देवियों को देख कर ऐसा लगता है कि मानों वे मनुष्य के पृथ्वी–दोषों को परिमार्जित करने के लिए तत्पर हों, ताकि मनुष्य अपने सभी कर्मों से निवृत्त होकर, माया–मोह छोड़कर ईश्वर की देवमूर्ति पर अपना मन और आत्मा केन्द्रित कर ले। कहने का तात्पर्य यह है कि गर्भगृह, भ्रूण के समान है और मनुष्य का यहाँ से अपने अनुभूति के माध्यम से पुनर्जन्म होता है। अर्थात् गर्भगृह वह स्थान है जहाँ मनुष्य मायारूपी पूरे संसार का चक्कर लगाकर पहुँचता है और उसे परमेश्वर के दर्शन होते हैं जो सत्य और प्रकाशमान है। उनके दर्शन से मनुष्य के जीवन में फैला मायारूपी अंधकार छँट जाता है और मनुष्य को ज्ञान की प्राप्ति होती है।[7] इसके अतिरिक्त मंदिर के गर्भगृह के ऊपरी भाग की बनावट एवं संरचना भी देखने में अद्भुत लगती है। इस बनावट में एक चौड़े आधार से संरचना प्रारम्भ होती है तथा ऊपर की ओर जाकर सभी पंक्तियाँ क्रमशः घटती हुयी एक ही बिन्दु पर केन्द्रित हो जाती हैं। यह मंदिर का सबसे ऊँचा स्थान है, जिसे 'शिखर' या शीर्ष कहा जाता है। इस तरह की बनावट के पीछे भी दो उद्देश्यों की सिद्धि होती है: प्रथम, बाहर से देखने पर यह संरचना पर्वत की भाँति प्रतीत होती है, जिसे देख कर ऐसी अनुभूति होती है जैसे कि भगवान स्वयं पर्वतों में बैठकर तपस्या में लीन हों। द्वितीय इसकी आन्तरिक बनावट इस तथ्य का बोध कराती है कि मनुष्य इस मायारूपी ब्रह्मण्ड में जितना चाहे विचरण कर ले परन्तु उसकी अंतिम सिद्धि परमेश्वर में ही होती है।[8]

प्राचीन भारतीय वैदिक परम्परा सम्पूर्ण सृष्टि को पुरूष के रूपक से परिभाषित करती है इसीलिए पुरूष को विभिन्न विषयों में स्वीकार किया गया है। वास्तुग्रंथों में इसे वास्तु पुरूष की संज्ञा दी गयी है तथा मंदिर के विविध भागों को वास्तु पुरूष के विभिन्न अंगों के साथ समीकृत किया गया है। वैदिक कालीन ग्रंथों में वास्तोष्प नामक देवता का उल्लेख मिलता है जो वास्तु के देवता थे।[9]

वास्तु पुरूष की उत्पत्ति संबंधी आख्यान सर्वप्रथम वाराहमिहिर की बृहत्संहिता (अध्याय 52) तथा मत्स्यपुराण (अध्याय 252) में मिलता है। बृहत्संहिता के अनुसार एक बार एक ऐसा दैत्य हुआ जिसने सम्पूर्ण पृथ्वी को अन्धकारमय बना दिया। तत्पश्चात् हिन्दू मान्यता के अनुसार सभी 33 कोटि देवताओं ने उस दैत्य के एक–एक अंग को पकड़कर धरती पर औंधे मुँह लिटा दिया। औंधे मुँह लिटाने के पश्चात् दैत्य ने ईश्वर से प्रार्थना की कि अब मैं भोजन कैसे ग्रहण करूँगा तब ईश्वर ने उसे आशीर्वाद दिया कि तुम धरती पर ऐसे ही औंधे मुँह लेटे रहो तथा अब से धरती पर जब भी किसी भवन का निर्माण होगा तो जैसे–जैसे उसमें ईंट और पत्थर एक के उपर एक रखे जायेंगे ठीक उसी प्रकार भवन के रूप में तुम भी उठकर खड़े हो जाओगे तथा भवन निर्माणकर्ता के द्वारा जो यज्ञादि सम्पादित किए जायेंगे वही तुम्हारा आहार होंगे। वास्तु पुरूष की उत्पत्ति संबंधी कुछ इसी प्रकार का विवरण मत्स्यपुराण तथा आगे चलकर ईशान शिव गुरूदेव पद्धति, शिल्परत्न, काश्यपशिल्प, वास्तुविद्या, मानसार, समरांगण सूत्रधार, मयमत् तथा अपराजितपृच्छा आदि ग्रंथों में मिलता है।

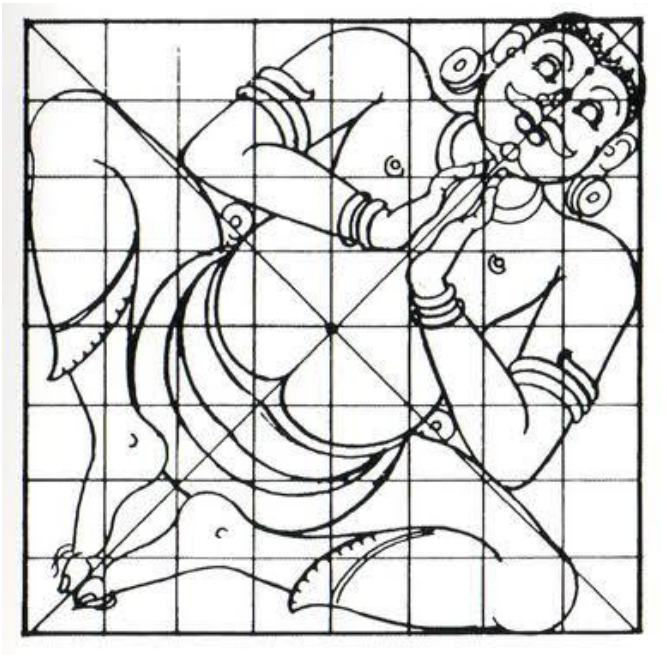

वास्तु पुरुष का स्वरूप[10]

इस प्रकार यह पुरूष पूरी सृष्टि और ब्रह्माण्ड का प्रतीक है। भारतीय परम्परा में वास्तु पुरुष के रूप में प्रत्येक भवन व प्रत्येक मंदिर अपने आप में सम्पूर्ण प्रकृति तथा सम्पूर्ण ब्रह्मांड है और क्योंकि यह मानव शरीर से समीकृत है इसलिए मानव शरीर चलता–फिरता ब्रह्मांड है।

साहित्य एवं अभिलेखों में मंदिर शब्द का प्रयोग सामान्य भवन के रूप में मिलता है। 13वीं शती ई. तक के साहित्य एवं अभिलेखों में यही परम्परा दिखायी पड़ती है परन्तु स्वतंत्र अर्थों में देवालय के लिए मंदिर शब्द का प्रयोग सम्भवतः औपनिवेशिक काल में हुआ।[11]

सम्पूर्ण रूप में मंदिरों के निर्माण को वैदिक काल से चल रही निरन्तर विकास की प्रक्रिया का परिणाम कहा जा सकता है जिसने विभिन्न कालों में विभिन्न आयामों को प्राप्त किया। मंदिर के संरचनात्मक अवशेषों की बात करें तो तृतीय शती ईसा पू0 से ही हमें सर्वप्रथम मंदिरों के अवशेष प्राप्त होने लगते हैं। तत्पश्चात् शुंगकाल में भी हमें इसी प्रकार के अवशेष प्राप्त होते हैं तथा आगे चलकर कुषाण काल में मंदिर का कोई स्पष्ट अवशेष तो प्राप्त नहीं होता है परंतु अनेकों ऐसे प्रमाण प्राप्त हुए हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि तत्कालीन जनजीवन में पूज्य–परम्परा विद्यमान थी। इसके बाद हमें गुप्तकाल में सर्वप्रथम अपने पूर्णरूप में निर्मित मंदिरों के अवशेष प्राप्त होते हैं जो तीन विभिन्न चरणों से होते हुए अपने उत्तरार्द्ध में पूर्णता को प्राप्त कर लेते हैं।[12]

पाँचवीं–छठी शती ई0 का काल उत्तर भारत में मंदिर–निर्माण–कला की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जा सकता है क्योंकि इसी समय शिखर युक्त मंदिरों का प्रादुर्भाव हुआ जिसके प्राचीनतम उदाहरण देवगढ़ (झाँसी जिला, उ0प्र0) तथा भीतरगाँव (कानपुर, उ0प्र0) के मंदिर हैं। साथ ही लक्ष्मण मंदिर भी है जिसे एडम हार्डी ने दक्षिण–कोशल शैली में निर्मित बताया है।[13] परवर्ती गुप्तकाल का समय प्रयोग का काल प्रतीत होता है। इस समय सीढ़ीनुमा जगती से युक्त ईंटो के मंदिर भी उपलब्ध होते हैं जिन्हें विष्णुधर्मोत्तरपुराण में एडूक प्रकार के मंदिर कहा गया है। इन सोपान युक्त क्रमिक जगती वाले मंदिरों की पहचान कृष्णदेव ने भी एडूक रूप से की है।[14] परन्तु नागर शैली के इन प्रारम्भिक मंदिरों का शिखर वास्तविक नागर न होकर बहुत कुछ फासना प्रकार का था। निरन्तर चल रही विकास की प्रक्रिया ने फासना के स्वरूप में मुख्यतः तीन परिवर्तन किए जिससे उसका स्वरूप बदलकर वास्तविक नागर में परिवर्तित हो गया:[15]

शिखर के सभी चरण एक–दूसरे में समाहित होकर मुख्य रेखा शिखर में परिवर्तित हो गए। चन्द्रशाला के आकार को छोटे आकार से युक्त जाला ने ले लिया। शिखर में प्रारम्भ से लेकर शीर्ष तक प्रत्येक मंजिल के कोनों का एकीकरण हो गया जिससे वेनुकोश का प्रारम्भ हुआ जो नागर शिखर की अनिवार्य विशेषता है।

उक्त विशेषताओं से युक्त शिखर को एकाण्डक नागर शिखर की संज्ञा दी गयी है। पूर्वमध्यकाल में इन एकाण्डक नागर शिखरों में मुख्य शिखर के चारों ओर अनेकों उरुशृंगों को पूँजीभूत करने की प्रक्रिया ने एकाण्डक को अनेकाण्डक शिखरों में परिवर्तित कर दिया। इस प्रकार इस समय में नागर शिखरों ने अपनी

पूर्णता को प्राप्त कर लिया। पूर्वमध्यकाल में नागर शिखरों का विकास तो हुआ ही साथ–साथ उनके निर्माण में विभिन्न शैलियों का भी प्रयोग किया गया। इस काल के ग्रंथों में मंदिर–निर्माण की कई शैलियों की चर्चा की गई है परन्तु उनमें से केवल नागर, द्रविड़ और वेसर आदि तीन ही लोकप्रिय हुयीं।[16] नागर का क्षेत्र जहाँ हिमालय से विंध्य पर्वत तक विस्तृत था वहीं द्रविड़ का कृष्णा से कन्याकुमारी तथा वेसर का विंध्य से कृष्णा तक। परन्तु यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो नागर शैली के कुछ मंदिर कर्नाटक क्षेत्र से प्रारम्भिक पश्चिमी चालुक्यों की राजधानी से प्राप्त हुए हैं। ठीक इसी प्रकार द्रविड़ शैली के समरूप कुछ मंदिर उत्तर भारत स्थित ग्वालियर व उड़ीसा से प्राप्त हुए हैं। इस क्षेत्र–संक्रमण संबंधी मत के विषय में कोई आश्चर्य की अभिव्यक्ति संभवतः नहीं की जा सकती है क्योंकि ईशानशिवगुरूदेव पद्धति तथा कामिकागम् में स्पष्टतः उल्लेख है कि कलाकार अपनी आत्मा को शरीर प्रदान करने के लिए किसी भी क्षेत्र का अतिक्रमण कर सकता है।[17]

नागर शिखर से तात्पर्य शीर्ष से है जो कि मंदिर का सबसे ऊपरी भाग होता है। यह अनेक प्रतीकों का समन्वय है। अनेक विद्वानों ने इसके निर्माण के पीछे अनेकों तर्क दिए हैं। प्राचीन हिन्दू मान्यता के अनुसार देवता गिरिश्रृंगों पर निवास करते थे तथा शिखर की बाह्य संरचना इसी तथ्य की परिचायक है जबकि शिखर की आन्तरिक बनावट मनुष्य के जीवन के विभिन्न चरणों को प्रदर्शित करती है जिसको जीते हुए एक दिन वह शून्य में मिल जाता है। शिखर पर अंकित चैत्य–गवाक्ष सूर्य–चक्र की भाँति प्रतीत होते हैं क्योंकि जीवन के विभिन्न चरणों को जीते हुए मनुष्य के मन में जब अन्धकार बैठ जाता है तब सूर्य की किरणें चक्र की भाँति उस नकारात्मकता को काट देती हैं तथा सकारात्मकता का प्रसार करती हैं। शिखर के शीर्ष पर स्थित आमलक अमरता का प्रतीक है तथा यह इस मायारूपी संसार से दूर होकर स्वर्ग में जाने का मुक्तिद्वार भी है। कलश को अमर कलश की संज्ञा दी गयी है जहाँ से आत्मा नवीन स्वरूप धारण करती है।[18]

मंदिर : शिखर का स्वरूप[19]

Endnotes:

[1] क्रैमरिश, स्टेलाः द हिन्दू टेम्पुल्स, भाग 1, 1946 पृष्ठ सं. 145, कलकत्ता।
[2] शल्परत्नः अध्याय 16, पृष्ठ 114।
[3] मंदिरःपुरूष का प्रतिरूपः शिल्परत्नकोश पेज नं. 32।
[4] चन्दा, आर0 पी0, 1936, मेडिवल इण्डियन स्कल्पचर्स इन दि ब्रिटिश म्यूजियम, पृष्ठ सं0 6, लंदन।
[5] बनर्जी, जे0एन0, 1956, द डेवलपमेण्ट ऑफ हिन्दू आइकोनोग्रैफी (द्वितीय संस्करण), पृष्ठ सं0 36, कलकत्ता।
[6] मैक्समूलर, 1872, चिप्स फ्राम ए जर्मन वर्कशाप, जिल्द 1, पृष्ठ 38।
[7] विष्णुपुराण, भूमिका, पृष्ठ सं0 2।
[8] मैक्डोनेल, 1963, दी वैदिक माइथॉलजी, पृष्ठ सं0 13, वाराणसी।
[9] कीथ, ए0वी0,1925, रेलिजन एण्ड द फिलॉसफी ऑफ दि वेदाज, जिल्द 1, पृष्ठ सं0 48, वाराणसी।
[10] शिल्परत्नकोश पेज नं. 32।
[11] एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द 22 , पृष्ठ सं0 204।
[12] जर्नल ऑफ दि न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया, बाम्बे।
[13] आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया रिपोर्ट, संख्या 70, पृष्ठ 1–2।
[14] विष्णुधर्मोत्तर, तृतीय खण्ड, अध्याय 87, श्लोक 2।
[15] आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया रिपोर्ट, जिल्द 11, पृष्ठ सं0 40–42।
[16] शुक्ल, डी0एन0, 1968, भारतीय स्थापत्य, पृष्ठ सं0 111, लखनऊ।
[17] कुमारस्वामी, आ0, 1927, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, पृष्ठ सं0 81, लंदन।
[18] क्रैमरिश, स्टेला, 1946, दी हिन्दू टेम्पुल, भाग 1, पृष्ठ सं0 263, कलकत्ता।
[19] कृष्णदेव कृत खजुराहो।